युग-चेतना के सूत्रधार स्वामी रामकृष्ण परमहंस

❖

लेखक :
पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

❖

प्रकाशक :
युग निर्माण योजना
गायत्री तपोभूमि, मथुरा
फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

पुनरावृत्ति सन् २००८ मूल्य : ७-०० रुपया

युग-चेतना के सूत्रधार
स्वामी रामकृष्ण परमहंस

पतन और उत्थान संसार का अटल नियम है। यह केवल व्यक्तियों पर ही नहीं वरन देश, राष्ट्र, समाज, जाति, सभी छोटी-बड़ी संस्थाओं पर लागू होता है। जो जातियाँ किसी समय संसार की स्वामिनी बनी हुई थीं वे ही कुछ समय पश्चात अवनति के गर्त में गिरी हुई दिखाई पड़ती हैं। हमारा देश भी जो महाभारतकाल तक चक्रवर्ती पद पर अधिष्ठित था, तत्पश्चात पारस्परिक वैमनस्य के फल से पतन के मार्ग पर चलने लगा और एक समय ऐसा आया जब वह सब प्रकार से ध्वस्त और त्रस्त होकर विदेशियों का मुखापेक्षी बन गया। पर भारतीय संस्कृति को यहाँ के प्राचीन ऋषि-मुनियों ने ऐसे सुदृढ़ धार्मिक आधार पर स्थापित किया है कि पतनोन्मुख हो जाने पर भी उसे किसी न किसी रूप में दैवी सहायता प्राप्त होती रहती है, जिससे यह फिर सँभल कर उत्थान की दिशा में अग्रसर होने लगती है।

इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए पिछले सौ डेढ़-सौ वर्षों में अनेक दैवीशक्ति संपन्न आत्माओं का प्रादुर्भाव हुआ है। ऐसे युग-परिवर्तनकारी महापुरुषों की कई श्रेणियाँ होती हैं। उनमें बुद्ध और महावीर जैसे राजवंशीय भी पाए जाते हैं और कबीर और रैदास जैसे छोटी जाति के माने जाने वाले भी होते हैं। जिस प्रकार श्रीकृष्ण जैसे

सर्वकला-विशारद, शंकराचार्य तथा चैतन्य जैसे प्रकांड विद्वानों का आविर्भाव हुआ, वैसे ही नामदेव, ज्ञानेश्वर, तुकाराम, मीराबाई आदि अल्पशिक्षित संतों ने भी अपूर्व कार्य करके दिखाए। इस दृष्टि से विद्या, वैभव, पदवी आदि को महापुरुषों की पहिचान समझना भूल है। कोई नहीं कह सकता कि ईश्वर का विशिष्ट तेज कब, किस जीवात्मा में प्रकट हो उठेगा? श्री रामकृष्ण परमहंस के चरित्र से इस कथन की सत्यता पूरी तरह सिद्ध होती है।

श्री रामकृष्ण (जन्म सन् १८३६) के पिता श्री खुदीराम चट्टोपाध्याय कामारपुकुर गाँव के रहने वाले एक गरीब व्यक्ति थे। पर वे ऐसे ईश्वर-भक्त और सेवाभावी थे कि स्वयं भूखे रहकर भी दीन-दुःखी और अतिथियों की सेवा करने को सदैव प्रस्तुत रहते थे। उनकी पत्नी चंद्रादेवी भी बिलकुल उन्हीं के स्वभाव की थीं। जिससे इस प्रकार के परोपकारी जीवन में उनको सब तरह की सहायता मिलती थी। श्री रामकृष्ण बाल्यावस्था से ही बड़े आकर्षणयुक्त थे जिससे परिचित-अपरिचित सभी उनसे प्रेम करते थे। नामकरण-संस्कार के समय पंडितों ने उनका नाम रामकृष्ण रखा था, पर पास-पड़ौस के सब लोग प्रेम से उनको गदाधर या गदाई कहा करते थे। गाँव में एक धर्मशाला थी जिसमें प्राय: साधु-सन्यासी आकर ठहरा करते थे। गदाई उन लोगों के पास घंटों बैठकर धार्मिक कथा-वार्ता सुना करते थे। पाँच वर्ष की आयु हो जाने पर उनको पाठशाला भेजा गया, पर वे उसी अवस्था में भजन-कीर्तन में इतने तल्लीन रहने लगे कि उनको पढ़ना-लिखना कुछ न आ सका। वे कहा करते थे कि पढ़ना-लिखना सीखकर तो मुझे पुरोहिताई का धंधा करना पड़ेगा, दाल, चावल, आटा बाँधकर लाना पड़ेगा। मुझे ऐसी विद्या की आवश्यकता नहीं है। ऐसा अन्न तो मेरे खेत में ही पैदा हो जाता है।

दक्षिणेश्वर में निवास

जब श्री रामकृष्ण की अवस्था १४-१५ वर्ष की हुई तो वे अपने भाई श्री रामकुमार के पास कलकत्ता चले आए, जो वहाँ एक संस्कृत पाठशाला में विद्यार्थियों को पढ़ाते थे। कुछ समय बाद जानबाजार निवासी रानी रासमणि ने दक्षिणेश्वर में एक बहुत बड़ा मंदिर बनवाया जिसमें कई देवताओं के अलग-अलग मंदिर थे। पं० रामकुमार को उसमें पूजा करने को नियुक्त किया गया। श्री रामकृष्ण भी उनके साथ वहीं रहने लगे। पहले तो उन्होंने अपने भाई के इस काम का विरोध किया, क्योंकि रानी रासमणि जाति की कैवर्त (मल्लाह) थीं, पर धीरे-धीरे उनका मन वहाँ लग गया और वे रानी की तरफ से कालीदेवी के पुजारी नियत कर दिए गए। वे इस कार्य को पूरी श्रद्धा और भक्ति के साथ किया करते थे और प्रायः प्रार्थना किया करते थे-"माँ, मुझे दर्शन दे।" उनकी दशा उन्मत्त की-सी हो जाती थी और वे अपने शरीर का ज्ञान भूलकर घंटों 'माँ-माँ' चिल्लाया करते थे जिससे लोग उनको सचमुच पागल समझने लगे।

इस प्रकार आंतरिक भक्ति, श्रद्धा और वैराग्य द्वारा वे आध्यात्मिक मार्ग में निरंतर उन्नति करते गए। जब वे ध्यान करने बैठते तो उनको शीघ्र ही समाधि-सी लग जाती थी और वे बड़ी देर तक पत्थर की मूर्ति की तरह बैठे रहते थे, जो कोई उनको देखता वह भी उनसे प्रभावित हुए बिना न रहता। उनकी साधना की बात दूर-दूर तक फैल गई और सैकड़ों व्यक्ति उनके दर्शनों को आने लगे। वे लोग बहुत तरह की भेंट भी चढ़ाते थे, पर वे उसे छूते भी न थे। उन्होंने साधना द्वारा रुपए-पैसे से ऐसी घृणा पैदा कर ली थी

कि सोना-चाँदी छूने से उनको जलन-सी होने लगती थी। बड़े-बड़े पदवीधारी उनकी स्तुति-प्रार्थना करते पर उस तरफ भी उनका ध्यान नहीं जाता था। लोगों का विश्वास था कि उनको कालीदेवी का प्रत्यक्ष दर्शन होता था और वे प्रत्येक कार्य उससे पूछकर ही करते थे।

आध्यात्मिक विवाह का अनुपम उदाहरण

श्री रामकृष्ण का विवाह अपने जन्मस्थान के समीप ही, जयराम वाटी नामक गाँव की श्रीमती शारदामणिदेवी से हुआ था। विवाह के समय वर की आयु २३ वर्ष की और वधू की ५ वर्ष की थी। सांसारिक दृष्टि से तो यह विवाह आक्षेपजनक जान पड़ता था पर श्री रामकृष्ण को इसका कुछ ध्यान न था। उनने केवल अपनी माता के आदेश को मानकर विवाह के लिए स्वीकृति दे दी थी। अब इसे आप चाहे संयोग कहें अथवा दैवी विधान कि माता शारदा भी बचपन से ही ईश्वरभक्ति परायण और भजन-साधन की तरफ अनुरक्त थीं। वे आरंभ से ही दीन-दु:खियों की सहायता और घर वालों की सेवा करने में सुख मानती थीं। उनका ऐसा मनोभाव देखकर अभिभावकों ने उनका विवाह एक अध्यात्म-मार्ग के पथिक के साथ करना उचित समझा। वे तेरह वर्ष की उम्र होने तक दो-तीन बार श्री रामकृष्ण के घर कामारपुकुर में जाकर रहीं। वहाँ एक बार परमहंस जी भी तीन महीने तक उनके साथ रहे और उनको लौकिक तथा आध्यात्मिक शिक्षा देते रहे।

इसके कुछ समय बाद जब शारदा माता ने लोगों के मुख से सुना कि परमहंस देव पागल हो गए हैं, तो वे इसका ठीक पता लगाने दक्षिणेश्वर आकर वहीं रहने लगीं। उस समय उनकी आयु

१६ वर्ष की थी और परमहंस जी की ३५ वर्ष की। वे कुछ समय तक पति के समीप ही सोती रहीं। पर परमहंस देव रात में चाहे जब उठकर ध्यान करने लगते थे और समाधि की अवस्था में मृतक तुल्य जान पड़ते थे, इससे शारदा माता को भय जान पड़ता था। तब परमहंस देव ने उनके सोने की व्यवस्था अपनी माता चंद्रादेवी जी के साथ कर दी, जो पास में ही एक कुटी में रहती थीं। तब से लेकर परमहंस देव के अंत समय तक वे दक्षिणेश्वर की एक छोटी-सी कोठरी में रहकर जहाँ तक तक बन सकता पति की सेवा करती रहीं।

यह श्री रामकृष्ण की असाधारण आत्मशक्ति का ही प्रभाव था कि वे अपनी युवती पत्नी के साथ एकांत में रहकर भी कामवासना से बचे रहे और कभी उनके हृदय में भोग-विलास का भाव नहीं आया। उलटा वे शारदा माता को जगदंबा का रूप समझकर कभी-कभी उनकी षोडशोपचार पूजा किया करते थे। जब कभी वे बीमार हुईं तो उनकी दवा-दारू और परिचर्या में भी उन्होंने त्रुटि नहीं की। वे स्वयं धातु को छूते न थे पर शारदा माता के लिए उन्होंने कुछ स्वर्ण-आभूषण बनवा दिए थे, जिससे अन्य स्त्रियों को अलंकार धारण किए देखकर उनको दुःख न हो। पर शारदा माता स्वयं भी ऊँचे दर्जे की आत्मज्ञान-निष्ठ थीं और ऊपरी गहनों, कपड़ों को महत्त्व न देकर ईश्वर भक्ति को ही अपने जीवन का परम लक्ष्य मानती थीं। परमहंस देव के समाधिस्थ हो जाने के पश्चात भी उन्होंने विधवा की तरह रहने का विचार नहीं किया, क्योंकि तब भी वे उनको प्रत्यक्ष दिखाई दिया करते थे और कहते थे कि "मैं तो अमर हूँ तुमको विधवा का वेष धारण करने की कोई आवश्यकता

नहीं।'' माता शारदा परमहंस देव के देहांत के पश्चात बहुत समय तक जीवित रहीं और सन् १९२० में बेलूड़ मठ में उन्होंने अपनी इहलीला संवरण की। श्री रामकृष्ण के भक्त उनमें भी दैवी शक्ति के अविर्भाव का विश्वास रखते थे।

कामिनी और कंचन का पूर्ण त्याग

संसार में मनुष्य को बंधन में डालने वाले दो ही पदार्थ हैं—कामिनी और कंचन, अन्य सब पदार्थ इन्हीं दोनों के अंतर्गत आ जाते हैं। स्त्री द्वारा कामवासना की पूर्ति के अतिरिक्त संतान होती है, उनका विवाह-संबंध होने से परिवार की वृद्धि होती है। कंचन के संबंध में भी ऐसी ही बात है। धन कमाने के लिए विद्याभ्यास करना पड़ता है, दूसरों की सेवा-चाकरी करनी पड़ती है, खुशामद करनी पड़ती है। धन के लिए सदैव शंकाशील और चिंतित रहना पड़ता है। धन की प्राप्ति के लिए मन इधर-उधर दौड़ा करता है। इसलिए जो मनुष्य अध्यात्म-क्षेत्र में प्रगति करने का अभिलाषी हो उसे कामिनी और कंचन की वासना बिलकुल त्याग देनी होगी। जिस समय श्री रामकृष्ण को दिव्य-ज्ञान हुआ उसी समय उन्होंने यह निश्चय कर लिया कि सब वस्तुओं का सार ईश्वर ही है और उसी को पाने का प्रयत्न करना चाहिए।

इसके पश्चात उन्होंने इस भावना को दृढ़ करने का अभ्यास करना आरंभ किया। उन्होंने एक हाथ में रुपया और दूसरे में मिट्टी का ढेला लिया और मन को संबोधन करके कहने लगे—''हे मन, तू इसको रुपया कहता है, और इसको मिट्टी। रुपया चाँदी का गोल टुकड़ा है जिस पर एक ओर रानी (विक्टोरिया) की तस्वीर छपी है। यह जड़ पदार्थ है। रुपया से चावल, कपड़ा, घर, हाथी, घोड़ा आदि

पदार्थ प्राप्त हो सकते हैं, दस-बीस मनुष्यों को भोजन कराया जा सकता है, तीर्थ-यात्रा, देवता और संतों की सेवा की जा सकती है। पर इसके द्वारा सच्चिदानंद की प्राप्ति नहीं हो सकती। क्योंकि इसके रहते हुए अहंकार सर्वथा नष्ट नहीं हो सकता और न मन आसक्तिहीन हो सकता है। देवता और साधु की सेवा आदि धर्म-कार्य किए जा सकने पर भी यह मन में रजोगुण और तमोगुण ही उत्पन्न करता है और इस दशा में सच्चिदानंद की प्राप्ति नहीं हो सकती।''

मिट्टी को देखकर वे कहते—''यह भी जड़ पदार्थ है, पर इससे अन्न उत्पन्न होता है जिससे मनुष्य के शरीर की रक्षा होती है। मिट्टी के द्वारा ही घर बनाया जाता है, देवी-देवताओं की मूर्तियाँ भी बनाई जा सकती हैं। द्रव्य के द्वारा जो कार्य होते हैं वे मिट्टी द्वारा भी हो सकते हैं। दोनों एक ही श्रेणी के जड़ पदार्थ हैं और दोनों का परिणाम एक ही तरह का होता है। अरे मन! तू इन दोनों पदार्थों को लेकर तृप्त होगा अथवा सच्चिदानंद को प्राप्त करने का प्रयत्न करेगा।'' इस प्रकार कहकर उन्होंने नेत्र बंद कर लिए और 'रुपया-मिट्टी' 'रुपया-मिट्टी' इस प्रकार की ध्वनि करने लगे। अंत में उन्होंने रुपया और मिट्टी दोनों को गंगाजी में फेंक दिया। इस प्रकार बार-बार अभ्यास करके उन्होंने अपने मन को धातु (रुपया) के प्रति इतना विरक्त बना लिया कि किसी धातु के छूने से बड़ा कष्ट जान पड़ता था।

इसी प्रकार उन्होंने स्त्री के संबंध में विचार किया कि उसकी वासना किसी भी प्रकार से क्यों न रखी जाए, उससे मस्तिष्क और मन दुर्बल ही होते हैं और परमात्म-चिंतन में बाधा पड़ती है। माना कि उसे लोग सुख के लिए ग्रहण करते हैं, पर वह सुख क्षणिक ही

रहेगा, कभी स्थायी नहीं हो सकता, वरन उसका अंतिम परिणाम सदैव हानिकारक ही होता है।

गुरु परीक्षा

यद्यपि दक्षिणेश्वर मंदिर की संस्थापिका रानी रासमणि और उसके दामाद मथुरा बाबू को यह निश्चय हो गया कि श्री रामकृष्ण सिद्ध पुरुष हैं और इस कारण वे उनके प्रति अत्यंत श्रद्धा रखते थे। उस समय परमहंस देव की आयु चौबीस-पच्चीस वर्ष की थी, उनका शरीर बहुत बलवान था और सुंदरता को देखकर दर्शक तुरंत आकर्षित हो जाते थे। इस प्रकार उस समय वे पूर्ण युवक थे, पर लोग उनसे पाँच वर्ष के बालक के समान व्यवहार किया करते थे। स्त्रियाँ उनके पास आने में जरा भी संकोच नहीं करती थीं। तो भी मनुष्य का मन ऐसा दुर्बल और अविश्वासी होता है कि अंत में इन लोगों ने परमहंस देव की परीक्षा ले ही डाली।

कलकत्ता के मछुआ बाजार में रहने वाली लक्ष्मीबाई नामक एक वेश्या से पहले सलाह करके मथुरा बाबू परमहंस देव को उसके घर ले गए। लक्ष्मीबाई ने १५-१६ सुंदर युवती वेश्याओं को अर्धनग्न अवस्था में एक कमरे में इकट्ठा कर रखा था। परमहंस देव को उस कमरे में ले जाकर मथुराबाबू धीरे से दूसरे कमरे में चल गए। परमहंस देव इन दिनों बिलकुल नग्न अवस्था में रहते थे, शरीर को ऊपर से केवल एक चादर से ढक लेते थे। ऐसी युवतियों के रूप-लावण्य और हाव-भावों से योगियों के मन में भी विकार उत्पन्न हो जाता है। फिर आज तो वे परमहंस देव की परीक्षा के लिए तरह-तरह की युक्तियाँ कर रही थीं। श्री रामकृष्ण जैसे ही कमरे में पहुँचे उन्होंने उनके बीच में खड़े होकर 'माँ आनंदमयी, माँ आनंदमयी'

कहकर मस्तक नवाया और यही शब्द बार-बार उच्चारण करते-करते समाधि-अवस्था में पहुँच गए। उनके नेत्रों से लगातार प्रेमाश्रु बह रहे थे। उनकी ऐसी अवस्था देखकर वेश्याएँ भयभीत हो गईं। कोई उनकी हवा करने लगी। कोई अपराध समझ कर क्षमा माँगने लगी। यह दृश्य देखकर मथुराबाबू अत्यंत लज्जित हुए और उस दिन से उनकी भक्ति परमहंस देव के प्रति और भी दृढ़ हो गई।

इस घटना के पश्चात ईर्ष्यालु स्वभाव के व्यक्ति अन्य प्रकार से निंदा करने लगे। कुछ लोगों ने कहा कि परमहंस देव सिद्ध नहीं हैं, वरन स्नायु रोग के कारण उनके पुरुषार्थ की हानि हो गई है और नपुसंक हो जाने से वे कुछ करने लायक ही नहीं हैं। इस पर रानी ने फिर उनकी परीक्षा लेनी चाही। इस संबंध में परमहंस देव ने एक बार कहा था—"मैं अपनी कोठरी में सो रहा था कि दो स्त्रियाँ मेरे पास आईं। पहले तो उन्होंने मुझसे इधर-उधर की कुछ बातें कीं फिर खुल्लमखुल्ला मेरे अंग का स्पर्श करके काम चेष्टा करने लगीं। मैं 'माँ-माँ' पुकार उठा और बेसुध हो गया। जब मुझे चेत हुआ तो देखा कि वे स्त्रियाँ मेरे चरण पकड़ कर रो रही थीं। मैंने तुरंत अपने चरण खींच लिए और 'माँ! आनंदमयी' कहकर नमस्कार किया। इसके बाद वे बार-बार क्षमा माँग कर चली गईं।

इस प्रकार परमहंस देव ने प्रलोभनों के दो मुख्य आधारों का आरंभ से ही निराकरण कर दिया। आजकल के उपदेशक और नेता बनने वाले इन विषयों में कैसे कच्चे होते हैं यह किसी से छिपा नहीं है। फिर यदि हमारा कार्य क्षणस्थायी हो अथवा हमको प्राय: असफलता का ही मुँह देखना पड़ता हो तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। परमहंस देव नारी-मात्र को जगदंबा का अंश समझ कर 'माता' ही

कहते थे। वे काली की मूर्ति के सम्मुख खड़े होकर प्रार्थना करते थे—'माँ! अविद्या भी तू है, गृहस्थ की कुलवधू भी तू है, मछुआ बाजार की वेश्या भी तू है। माँ! दोनों रूपों में तू मेरी माता है—मैं तेरी संतान हूँ।'

स्वामी विवेकानंद ने परमहंस देव के उन शिष्यों से, जो प्राय: गुरुजी के समान काम करने की बातें किया करते थे, कहा कि 'परमहंस देव के समान काम करना अथवा उनके रास्ते पर बराबर चलते चले जाना हँसी खेल नहीं है। न नौ मन तेल होगा न राधा नाचेगी। वे महीनों तक युवती स्त्री के साथ शयन करते रहे फिर भी उनके मन में किसी प्रकार की विकार, वासना उत्पन्न न हुई, यह मनुष्य के वश के बाहर की बात है।' इस प्रचंड आध्यात्मिक शक्ति का ही परिणाम था कि उस समय के बड़े-बड़े नव-शिक्षित भी इस अनपढ़ साधु को 'भगवान' कहकर पूजने लग गए थे।

संपत्ति से विराग

कुछ समय पश्चात परमहंस देव के त्याग और तपस्या की कीर्ति दूर-दूर तक फैल गई और बहुसंख्यक लोग उनके दर्शनों को आने लगे। यद्यपि उनको भीड़-भाड़ पसंद न थी, तो भी वे अपने मुख से न तो किसी को इनकार कर सकते थे और न कठोर शब्द कह सकते थे। उस समय कलकत्ते के मारवाड़ी भी काफी संख्या में उनके पास आने लगे थे। इनमें लक्ष्मीनारायण नामक व्यक्ति गीता और भागवत का विशेष प्रेमी था। वह परमहंस देव से धर्मशास्त्र के संबंध में अधिक तर्क-वितर्क किया करता था। जब उनकी बातों से उसे संतोष हो गया तो उसने प्राय: दक्षिणेश्वर आकर उनके उपदेश सुनने का नियम बना लिया।

एक दिन लक्ष्मीनारायण ने परमहंस देव के बिस्तर पर फटी चादर को देखकर कहा—''आपके बिछाने की चादर फट गई है, इसे बदल क्यों नहीं लेते?'' उन्होंने उत्तर दिया—''वह अभी काम देने लायक है, जब अधिक फट जाएगी तो मंदिर के स्वामी दूसरी भेज देंगे।'' लक्ष्मीनारायण कहने लगा।''यह कायदा तो ठीक नहीं, कपड़ा फटकर चिथड़ा हो जाए उसके पहले ही नया वस्त्र दे देना चाहिए। इस देश के धनवान इस संबंध में नामसझ हैं, वे साधुओं का सम्मान करना नहीं जानते। हमारे देश में धनी लोग साधुओं के लिए इतनी व्यवस्था कर देते हैं कि उनको अपने खर्च के लिए किसी से कुछ माँगने की आवश्यकता नहीं पड़ती। अगर साधु को जीवन-निर्वाह की चिंता करनी पड़े तो उनके भजन-साधन में विघ्न पड़ता है। किसके मन का भाव कब कैसा होगा, इसका क्या पता? एक मनुष्य आज साधुओं का परम भक्त होता है और वही दस दिन बाद उनका बड़ा विरोधी बन जाता है। इसलिए मेरी इच्छा है कि आपके नाम से दस हजार रुपए के प्रामेसरी नोट खरीद दूँ। उनका ब्याज कम से कम ४० रुपया महीना आ जाएगा, जिससे आपका सब खर्च भली प्रकार चलता रहेगा।''

यह बात सुनते ही परमहंस देव बड़े असंतुष्ट हो गए और पुकार कर कहने लगे—''क्यों मुझे धन का लोभ दिखाकर अनर्थ के कुँए में ढकेलते हो? धन तो परमार्थ के मार्ग में कंटक स्वरूप है और वह मनुष्य को उत्तम पद से नीचे गिरा देता है। तुम यह बतलाओ कि क्या धन के द्वारा 'सच्चिदानंद' प्राप्त हो सकता है? नहीं, नहीं, कभी नहीं। धन तो जड़ पदार्थ है, उससे जो कुछ प्राप्त होगा वह भी जड़ ही होगा। जड़ पदार्थ की भी आवश्यकता होती

है, यह ठीक है। शरीर की रक्षा के लिए भी धन की आवश्यकता पड़ती है। पर मेरा काम काली माता की कृपा से स्वच्छतापूर्वक चल जाता है। इसलिए धन इकट्ठा करके रखने का कोई कारण मुझे दिखाई नहीं देता। मैं रासमणि के मंदिर में रहता हूँ, इससे वही मुझे भोजन देती है, ऐसा तुम समझते होंगे ? अज्ञानी ऐसा ही विचार करते हैं, पर क्या यह सत्य है ? रासमणि को द्रव्य किसने दिया है ? जिस समय उसका जन्म हुआ वह अपने साथ द्रव्य नहीं लाई थी और मरते समय भी साथ में कुछ नहीं ले जा सकेगी। इसलिए यह तो केवल बाहरी प्रपंच ही है। इस प्रपंच को मैं नमस्कार करता हूँ। पर जड़ पदार्थ जड़ का ही सहकारी बन सकता है। चैतन्य के साथ उसका केवल आधार-आधेय का ही संबंध रह सकता है। हमारी देह जड़ पदार्थों से बनी है, इसलिए द्रव्य से उसकी पुष्टि में सहायता मिलती है। चैतन्य के साथ उसका कोई साक्षात संबंध नहीं जान पड़ता। तब हम क्यों चैतन्य के साथ जड़ पदार्थ का संबंध जोड़ने की चेष्टा करें ?''

यह सुनकर लक्ष्मीनारायण ने कहा—''मैं आपकी इस बात का पूरी तरह अनुमोदन नहीं कर सकता। अपने संबंध में आपने जो विचार प्रकट किए वे ठीक नहीं हैं। आप कौन हैं, यह मैंने समझ लिया है और इसी कारण यह प्रस्ताव किया था। मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि आपका मन विषयों से बिलकुल अलग हो गया है। तेल जैसे पानी पर तैरता है वैसे ही आपका मन विषयों पर तैरता रहेगा। आपने अहंकार की बात कही, पर आप जैसे पवित्र व्यक्ति के मन में उसे स्थान मिलने की कोई संभावना नहीं।''

परमहंस देव ने उत्तर दिया—"तेल और पानी एक साथ मिल तो नहीं सकते, पर जल में तेल की गंध अवश्य आ जाती है और ज्यादा दिन बीत जाने पर तेल और जल के संयोग स्थान पर चीकट जम जाती है, उसमें से दुर्गन्ध निकलने लगती है। इसी प्रकार विषयों के साथ मन का संयोग होने से पहले विषयों में से दुर्गन्ध निकलने लगेगी ओर फिर मन विकृत हो जाएगा।"

लक्ष्मीनारायण ने कहा—"अच्छा, अगर इस कार्य में आपको इस प्रकार की अड़चन जान पड़ती है तो मैं आपके किसी संबंधी के नाम पर प्रामेसरी नोट खरीद दूँगा।" पर परमहंसदेव ने इसके लिए भी इनकार किया और कहा—"ऐसा करने से भी मेरे मन के ऊपर उसकी छाया पड़ेगी। मैं जानता रहूँगा कि यह धन मेरा है, केवल दूसरे के नाम पर कर दिया गया है। यह तो और भी पाप का काम है।" लक्ष्मीनारायण ने फिर बड़े आग्रह से कहा—"आपको यह रुपया तो अवश्य लेना पड़ेगा। जब मैंने यह रुपया आपको दान करनेका निश्चय कर लिया है तब मैं उसे हर्गिज वापस नहीं ले जा सकता। आपकी जैसी इच्छा हो वैसा उसका उपयोग करो।"

लक्ष्मीनारायिण की यह बात सुनते ही परमहंस देव बालकों की तरह रोने लग गए—"माँ, ऐसे लोगों को मेरे पास क्यों लाती है? माँ! जो लोग मुझे तुझसे अलग करना चाहते हैं वे तो मेरे साथ शत्रुता करते हैं, माँ!" ऐसा कहते-कहते वे समाधिस्थ हो गए। लक्ष्मीनारायण को यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ और वह क्षमा माँगने लगा। परमहंस देव थोड़ी देर में प्रकृतिस्थ हो गए और उन्होंने अपने स्वभाव सिद्ध मीठे वचनों से लक्ष्मीनारायण को संतुष्ट किया।

इसी प्रकार एक बार रानी रासमणि के दामाद मथुरा बाबू ने भी परमहंस देव के नाम से ५० हजार रुपए के प्रामेसरी नोट खरीदने की इच्छा प्रकट की थी, पर उन्होंने इससे स्पष्ट इंकार कर दिया और अपना मंतव्य भी पूरी तरह समझा दिया कि साधु कहलाने वाले को अपने पास धन कभी नहीं रखना चाहिए, क्योंकि इससे अहंकार की उत्पत्ति होती है। हमारा योग-क्षेम तो भगवान के हाथ में ही रहता है।

रानी को थप्पड़

परमहंस देव की अवस्था भक्ति और साधना की अधिकता से कुछ दिनों के लिए उन्मत्त की तरह हो गई थी और वे काली की पूजा विधिवत न करके मनमाने ढंग से करते थे। इसलिए पूजा-कार्य उनके भानजे हृदयानंद के सुपुर्द कर दिया गया। परमहंस देव जब कभी मन में आता मंदिर में जाकर जैसे चाहते स्वतंत्र रूप से पूजा किया करते। एक दिन पूजा करने गए तो देवी के लिए जो फूल-मालाएँ तैयार करके रखी गई थीं उनको अपने गले में पहिन लिया और चंदन भी अपने शरीर पर लेप लिया, फिर समाधि में बैठ गए। यह देखकर मंदिर के अन्य कर्मचारी बहुत असंतुष्ट हुए और उनको मंदिर में जाने से रोकने की युक्ति करने लगे। पर जब वे अपनी धुन में मंदिर में जाने लगते तो किसी का साहस उनको रोकने का नहीं होता था। फिर एक दिन वे पूजा करने गए तो देवी पर चढ़ाए जाने वाले विल्वपत्र उन्होंने मंदिर के सेवकों तथा अन्य पदार्थों के सम्मुख चढ़ा दिए। देवी के लिए जो भोग बना था उसे बिल्लियों को खिला दिया और स्वयं भी खा लिया। इस पर कर्मचारियों ने उनकी शिकायत मथुरा बाबू से की, पर उन्होंने इसका कोई उत्तर

न दिया। तब कर्मचारियों ने स्वयं ही उनको मंदिर के भीतर जाने से रोकने का निश्चय कर लिया और यह काम दरबान के जिम्मे कर दिया गया। दूसरे दिन दरबान ने उनको रोका, पर वे अपनी धुन में ऐसे धुत मस्त थे कि दरबान की बात सुनी ही नहीं। तब वह दोनों हाथ फैलाकर उनके सामने खड़ा हो गया। परमहंस देव ने उसको एक मुक्का मारा और हटाकर भीतर घुस गए। एक मुक्का पड़ते ही दरबान ऐसा घबड़ा गया कि तुरंत वहाँ से चला गया।

इस घटना की शिकायत कर्मचारियों ने खूब नमक मिर्च लगाकर मथुरा बाबू से की। पर उन्होंने कहा—"भट्टाचार्य महाशय (परमहंसदेव) के किसी काम के विरुद्ध कोई नहीं बोल सकता, जैसी उनकी इच्छा होगी वैसा ही वे करेंगे।" यह सुनकर नौकर-चाकर चुप रह गए, पर मन में उन्होंने बड़ा अपमान अनुभव किया। उन्होंने सब बातों की शिकायत रानी रासमणि से की। उन्हें बहुत गुस्सा आया, पर मथुरा बाबू के खिलाफ वह कुछ कह नहीं सकती थीं। दो-चार दिन बाद जाँच करने के उद्देश्य से वह स्वयं मंदिर में गईं। उस समय परमहंस देव भी वहाँ बैठे थे। रासमणि का नियम था कि जब वह मंदिर में आतीं तो उनके मुख से दो-चार शक्ति विषयक भजन अवश्य सुनती थीं। आज भी उसने ऐसी ही इच्छा प्रकट की और वे गाने लगे। पर अभाग्यवश रानी का मन गायन में न लगा और वह एक मुकद्दमे की बात सोचने लगीं। परमहंस देव ने उसके मन की बात को जानकर तुरंत एक थप्पड़ मारा और बहुत फटकारा। आस-पास के लोग यह दृश्य देखकर अत्यंत भयभीत हो गए कि "अब भट्टाचार्य" महाशय का क्या होगा? पर आश्चर्य की बात कि रानी ने इस अपमान पर जरा भी

क्रोध न किया, वरन वह शोकातुर हो मंदिर से बाहर चली गईं। चाहे तो उसने परमहंस देव को पागल समझकर कुछ न कहा हो और चाहे वह उनको सिद्ध पुरुष मानती हों। एक दूसरे अवसर पर भी जब रानी पूजा करते हुए मुकद्दमे की बात सोचने लगी थीं तो परमहंस देव ने उसको इसी प्रकार मार दिया था।

विभिन्न संप्रदायों की एकता

श्री रामकृष्ण यद्यपि कालीदेवी के भक्त थे और सदैव उनका ध्यान किया करते थे, पर वे अन्य संप्रदायों के प्रति भी समान आदर का भाव रखते थे। एक बार उनके मन में अन्य संप्रदायों की उपासना-पद्धति की परीक्षा करने का विचार उत्पन्न हुआ। पर वे उन लोगों में से नहीं थे जो अन्य संप्रदायों के सिद्धांतों को पढ़कर या सुनकर उनके संबंध में निर्णय कर लेते। उन्होंने उनकी उपासना क्रियात्मक रूप से करने का निश्चय किया, जिससे उसके परिणाम का पूरी तरह अनुभव कर सकें।

पहले उन्होंने भगवान राम की उपासना का विचार किया। उन्होंने एक रामानंदी साधु को ढूँढ़ कर उससे दीक्षा ली और रामचंद्रजी की एक पीतल की मूर्ति लाकर उसकी पूजा करने लगे। उन्होंने विचार किया कि भगवान राम के सबसे बड़े भक्त हनुमान जी थे, क्योंकि वे संसार के प्रत्येक पदार्थ में राम के दर्शन करते थे और जिसमें राम का दर्शन नहीं होता था उसे ग्रहण नहीं करते थे। इसलिए परमहंस देव भी हनुमान की भावना के अनुसार ही रामचंद्र जी की भक्ति करने लगे। उस अवसर पर कुछ दिनों के लिए उनकी अवस्था मनुष्य से भिन्न प्रकार की ही जान पड़ती थी। वे वृक्षों पर चढ़कर 'राम-रघुवीर' की ध्वनि करते और जो फल उन्हें दिया

जाता उसे तुरंत दाँतों से जैसे का तैसा चबा जाते। कभी-कभी कपड़े की एक पूँछ भी अपने लगा लेते थे। वे पूजा करते समय रामचंद्र जी की मूर्ति से इस प्रकार बातचीत करते थे जैसे कोई साक्षात मनुष्य से करता है।

इसके पश्चात उन्होंने श्रीकृष्ण की भक्ति की और कुछ समय के लिए उसी में तन्मय हो गए। वे प्राय: कहने लगते थे—''प्यारे कन्हैया! अब तुझे नहीं जाने दूँगा, समझा! तेरे दर्शन बिना तो प्राण व्याकुल हो जाते हैं। दसों दिशाएँ शून्य जान पड़ती हैं। ले प्यारे! ये फल खा ले।'' इस प्रकार की अनेक बातें भावविभोर होकर किया करते थे।

इस प्रकार श्रीकृष्ण की आराधना करने के बाद 'सखी-संप्रदाय' के अनुसार उपासना करने लगे। उस समय वे स्त्रियों के वस्त्र-आभूषण पहिनकर तथा शृंगार करके भगवान की सेवा करने लगे। फिर वे राधिका जी की सखी बनकर उनकी भक्ति करने लगे। स्त्री का वेष धारण करने के लिए उन्होंने माथे पर जनाने बाल रखे। वे नाक में बेसर, आँखों में अंजन, मस्तक में सिंदूर तथा सब तरह के आभूषण पहिनकर राधाजी की स्तुति करते। ये सब गहने मथुरा बाबू ने उनको ला दिए थे। वे कहते—''कहाँ है ललिता! कहाँ है विशाखा! एक बार मेरे ऊपर दया करो। मैं अति दीन-हीन हूँ। मेरी क्या गति होगी? तुम्हारी दया के बिना मैं राधिका रानी का दर्शन नहीं कर सकती।'' ऐसा कहते-कहते उनकी आँखों से आंसुओं की अविरल धारा बहने लगती। कीर्तन के स्वर में विरह के गान गाते-गाते वे समाधिस्थ हो जाते और श्रीराधिका का दर्शन होने लगता।

इस प्रकार परमहंस देव ने भक्तिमार्ग की विविध शाखाओं का साधन करके यही निष्कर्ष निकाला कि सभी संप्रदायों का अंतिम परिणाम एक ही है। सब ईश्वर प्राप्ति के लिए ही प्रयत्न कर रहे हैं। इतना ही नहीं उन्होंने कर्ता, भजना, नवरसिक, वाउल आदि तांत्रिक मतों की साधना करके देखा तो भी कोई विशेष अंतर नहीं जान पड़ा। इस प्रकार विविध धर्मों की भीतरी अवस्था का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करके उन्होंने समझ लिया कि साधारण रूप से धर्म दो भागों में बँट गया है—पहला ज्ञान अथवा आत्म-तत्त्व विभाग और दूसरा भक्ति अथवा लीला-विभाग। वेदांती, तांत्रिक, बंगाली, वैष्णव आदि प्रथम श्रेणी में आते हैं और पौराणिक मत दूसरी में।

उन्होंने सिक्ख-धर्म की भी दीक्षा लेकर उसका मर्म ग्रहण किया। कितने ही अन्य छोटे-बड़े संप्रदाय तथा मतमतांतर वालों से भी वे मिले। अंत में एक दिन उनके मन में विचार आया कि 'हिंदू-मुसलमान में क्या भेद है ? यह भी मालूम किया जाना चाहिए।' इस संबंध में उन्होंने काली माता से प्रार्थना की और माता ने शीघ्र ही उसे पूर्ण कर दिया। दमदमा नामक गाँव में गोविंददास नाम का एक कैवर्त (मल्लाह) रहता था, जो गुप्त रूप से मुसलमानी धर्मानुसार साधन और भजन करता था। इस समय उसने परमहंस देव के पास आकर उनको मुसलमानी धर्म की दीक्षा दी। तीन दिन तक उसके अनुसार उन्होंने साधन किया। फिर उनका यह भाव बदल गया। इन तीन दिनों में वे काली के मंदिर में नहीं घुसे, काली का प्रसाद नहीं खाया और उनके अंत:करण से हिंदू-भाव भी लोप हो गया। इस परीक्षण के फल से वे इस नतीजे पर पहुँचे कि जिस प्रकार की साधन-प्रणाली हिंदुओं की है वैसी ही मुसलमानों की है। मुहम्मद

साहब ने कहा है कि "जो काफिरों का वध करेगा वही स्वर्ग में अप्सराओं के साथ सुख से निवास कर कर सकेगा।" काफिर का आशय इंद्रियों के विकारों से है, जैसे काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि। इन्हीं को काफिर या विजातीय धर्म वाला कहा जाता है। इनका विनाश या दमन करने से ही विद्या और शक्ति का प्रकाश होता है और विद्या के सहवास के बिना मनुष्य के लिए सुख-स्वच्छंदता का कोई दूसरा मार्ग नहीं है।

तत्पश्चात उन्होंने ईसाई-धर्म की उपासना का परिचय भी प्राप्त किया। उन्हें इस प्रकार परीक्षा करने पर उस शास्त्र-वाक्य की सचाई का प्रत्यक्ष प्रमाण मिल गया कि "विभिन्न संप्रदाय और साधन मार्ग अंत में एक ही परम लक्ष्य तक पहुँचा देते हैं, उनमें भेदभाव करना या छोटा-बड़ा समझना भूल है।" परमहंस देव कभी किसी मजहब या उसके मानने वाले संत पुरुषों के प्रति अवज्ञा का भाव नहीं रखते थे। उनकी इस प्रकार की भावना सनातन हिंदू-धर्म में किसी प्रकार की न्यूनता प्रकट करने के बजाय उसकी विशालता और महानता का ही परिचय देती थी।

निर्विकल्प समाधि की प्राप्ति

परमहंस देव की साधनावस्था में सब तरह के भिन्न-भिन्न संप्रदायों के संतजन उनके पास आया करते थे। उच्च कोटि के साधु, संन्यासी, वैष्णव, वावला, साँई, दरवेश तो इतने अधिक आते थे कि उनकी गिनती करना भी कठिन था। उनकी साधना की अंतिम अवस्था में तोतापुरी नाम का दिगंबर परमहंस दक्षिणेश्वर आया था। वह सात सौ नागा साधुओं का महंत था और ऋषीकेश के पास किसी स्थान में निवास करता था। पौष के महीने में गंगा सागर का

स्नान करके लौटते समय वह दक्षिणेश्वर में पहुँच गया। वहाँ उसने श्री रामकृष्ण को देखा और उनमें पूर्ण योगी के लक्षणों को पाकर उनसे कहा—"तुम कुछ साधन करोगे?"

श्री रामकृष्ण ने उत्तर दिया—"हमारा माई कहेगा तो करेंगे।" तोतापुरी ने समझा कि ये अपनी गर्भधारिणी माता से पूछेंगे। उसने कहा—"तब जाओ, अपनी माई से पूछो।" वे एक भोले बालक की तरह अच्छा कहकर जल्दी-जल्दी काली के मंदिर के भीतर चले गए। वे काली-माता के आज्ञाकारी संतान थे, कोई काम बिना उससे पूछे नहीं करते थे। इसलिए यह बात भी उन्होंने माता से जाकर पूछी।

माता ने उत्तर दिया—"हाँ, जाकर सीख ले।"

फिर पूछा—"कौन सिखाएगा माँ!"

काली माता ने उत्तर दिया—"जो तुझे वेदांत सिखाने आया है, उसी के पास सीख।"

परमहंस देव मंदिर में समाधिस्थ होकर अपने साथ ही इस प्रकार प्रश्नोत्तर करके तोतापुरी के पास आए और कहा—"हाँ, हमारी माई ने बोला है। तुम्हारे पास वेदांत सीखेगा।"

तोतापुरी कहने लगा—"हमारे पास उपदेश ग्रहण करना हो तो संन्यासी होना पड़ेगा।" परमहंस देव ने पूछा—"संन्यासी होने से क्या करना पड़ता है?" तोतापुरी ने कहा—"संन्यास ग्रहण करने की क्रिया, श्राद्ध, होम, आदि करना पड़ेगा।" उन्होंने यह सब करना स्वीकार किया, परंतु कहा कि—"संन्यासी होकर मुझसे दूसरे स्थान को जाया नहीं जाएगा।" कारण पूछने पर उन्होंने कहा—"मेरी माताजी जीवित हैं। भगवा वस्त्र धारण किए बिना संन्यासी हुआ जाए ऐसा

करना चाहिए, क्योंकि अब उनके कोई अन्य पुत्र नहीं है।'' तोतापुरी ने उनकी इच्छानुसार कार्य करना स्वीकार किया।

सुदिवस देखकर संन्यास-ग्रहण करने के साथ क्रियाएँ की गईं और एक सच्चे साधक ने समस्त जगत के हितार्थ सर्वस्व त्याग का व्रत ग्रहण किया। गुरु ने शिष्य को वेदांत का उपदेश देकर समाधिस्थ करने का प्रयत्न किया। आरंभ में तो निर्विकल्प समाधि के लगने में कुछ कठिनाई हुई, क्योंकि वे सदैव जगदंबा का ध्यान करते रहते थे। पर जब तोतापुरी ने उनकी भौंहों के मध्य एक काँच के टुकड़े से जोर से छेद दिया और उसी बिंदु में ध्यान लगाने का आदेश दिया तो तुरंत समाधि लग गई और वे तीन दिन तक उसी प्रकार देह ज्ञान शून्य अवस्था में बैठ गए। यह देखकर तोतापुरी को बड़ा आश्चर्य हुआ और अपने आप ही कहने लगा—''चालीस वर्ष पर्यंत कठोर साधन करके मैं जिस समाधि को कर सका वह इस महापुरुष को एक ही दिन में प्राप्त हो गई। अहा, यह कैसी दैवी माया है!'' तब तोतापुरी ने बहुत प्रयत्न करके उनको समाधि से जगाया।

इस प्रकार श्री रामकृष्ण ने संन्यासी की दीक्षा लेकर तोतापुरी को गुरु बनाया पर अनेक बातों में वे गुरु के गुरु हो गए। वह वेदांती होने के कारण मूर्ति पूजा और कीर्तन आदि को नहीं मानता था, पर इनकी सच्ची भावना को देखकर उसके विचारों में बहुत परिवर्तन हो गया और उसने काली की मूर्ति को प्रणाम किया। इसी प्रकार धूनी में से आग लेने पर वह एक नौकर को मारने को तैयार हुआ तो परमहंस देव ने समझाया कि क्या वेदांत का व्यवहार ऐसा ही होता है? इस पर उसने फिर कभी क्रोध न करने की प्रतिज्ञा की।

तोतापुरी के पास पानी रखने का एक बड़ा-सा लोटा और एक चिमटा था। वे लोटा और चिमटा को माँजकर हमेशा चमचमाता रखते थे। वे सिद्ध अवस्था को प्राप्त हो गए थे तो भी धारणा, ध्यान, समाधि का अभ्यास नियम पूर्वक किया करते थे। एक दिन परमहंस देव ने कहा—"महाराज! आपको तो ब्रह्म की प्राप्ति हो चुकी है, अब क्यों ध्यानाभ्यास करते हो?" यह सुनकर तोतापुरी ने लोटा की तरफ इशारा करके कहा—"देखो, यह लोटा कैसा चमचमा रहा है। अगर इसे हमेशा भली प्रकार माँजा न जाए तो इस पर मैल जम जाएगा। मन की भी ऐसी ही अवस्था है। अगर ध्यानाभ्यास द्वारा मन को निरंतर साफ न किया जाए तो वह मलिन हो जाएगा।" परमहंस देव ने गुरु के वचन को सत्य मानते हुए पूछा—"पर महाराज! जो यह लोटा सोने का होता तो? फिर तो हर रोज न माँजने पर भी इस पर मैल नहीं चढ़ सकता था।" नागा बाबा ने हँसकर इसे सत्य बताया और उनके मन में यह बात समा गई कि परमहंस देव वास्तव में सोने के लोटे की तरह स्वच्छ हैं, उन पर किसी प्रकार का मैल नहीं जम सकता।

विद्वानों द्वारा परमहंस देव की मान्यता

यद्यपि श्री रामकृष्ण पढ़ना-लिखना बिलकुल नहीं जानते थे और उनके संबंध में कबीर की यही उक्ति चरितार्थ होती थी—"मसि कागद छूऔ नहीं, कलम गही नहिं हाथ" पर अपनी अंत:प्रेरणा और विचारशीलता के प्रभाव से ही इन्होंने इतना ज्ञान अर्जित कर लिया था कि प्रसिद्ध शास्त्रज्ञ पंडित उनके सामने आकर पदावनत हो जाते थे। पर इसके यह अर्थ नहीं कि उनको अपने ज्ञान का किसी प्रकार का अभिमान था अथवा वह दूसरों के सामने अपना बड़प्पन प्रकट करते थे, वे एक छोटे बालक की तरह

सरल और निरभिमान थे और इसी से उनकी महानता में चार चाँद लग जाते थे। जो कोई उनसे मिलने आता वह उनकी नम्रता, विनय, प्रेम को देखकर सदैव के लिए उनका अनुगत हो जाता था।

जब उनका साधना-कार्य पूरा हो गया तो उन्होंने अपने विचारों की वास्तविकता की जाँच करने के लिए किसी विद्वान पंडित से भेंट करने की इच्छा प्रकट की। इस पर मथुरा बाबू ने परमहंस देव के भानजे हृदयानंद से सलाह करके वर्द्धमान जिला के निवासी पंडित गौरीकांत तर्कभूषण को बुलाने का निश्चय किया। वे अनेक शास्त्रों के ज्ञाता प्रसिद्ध विद्वान थे और साधना द्वारा उनको ऐसी शक्ति प्राप्त हुई थी कि शास्त्रार्थ में कोई उनको पराजित नहीं कर सकता था। पंडित गौरीकांत दक्षिणेश्वर आकर ज्योंही बैठक खाने में घुसे उन्होंने 'अरे-रे-रे निरालंबो लंबोदर जननि कं यामि शरणं' कहकर बड़े जोर से आवाज लगाई। इन शब्दों को सुनते ही श्री रामकृष्ण सिंह की तरह दहाड़ उठे और उपरोक्त श्लोक को ही दुहराते हुए चार गुनी भीम गर्जना करते पंडित जी के सम्मुख जाकर खड़े हो गए। यह देखकर गौरीकांत को बड़ा आश्चर्य हुआ और साष्टांग दंडवत करके कहने लगे—"प्रभो! मुझे आज ही दिव्यज्ञान प्राप्त हुआ है। मैंने साधन करके उच्च अवस्था अवश्य प्राप्त की थी,पर आपके दर्शन करके मेरा अहंकार आज ही नष्ट हो सका है। आप जगतगुरु हो आपकी कृपा हुए बिना मेरी सद्गति नहीं हो सकेगी। अन्य मनुष्य तो पैदल चल कर काशी पहुँचने का प्रयत्न करते हैं, पर आप तो मंत्र की गाड़ी में बैठकर तुरंत वहां पहुँच गए हैं।"

इसी प्रकार श्री वैष्णवचरण गोस्वामी जब मिलने को आए तो परमहंस देव कूदकर उनके कंधे पर बैठ गए। पंडित जी ने अपना जन्म सार्थक माना और उसी समय संस्कृत में श्लोक रचकर इनकी

स्तुति की। जब पंडित गौरीकांत से श्री वैष्णवचरण के साथ शास्त्रार्थ करने को कहा गया तो उन्होंने कहा कि परमहंस देव की कृपा से मेरा और इनका तो एक ही मत हो चुका है, शास्त्रार्थ किस बात पर किया जाए?

एक दिन हृदयानंद और मथुराबाबू परमहंस देव के पास बैठकर बातें कर रहे थे कि वर्द्धमान राजसभा के पंडित पद्मलोचन तर्कालंकार की बात चली। उस समय तर्कालंकार महाशय समस्त बंगाल में वेदांत और न्याय शास्त्र के अद्वितीय विद्वान माने जाते थे। उनकी प्रशंसा सुनकर परमहंस देव की इच्छा उनसे मिलने की हुई तो लोगों ने उनको स्वयं वर्द्धमान जाने की सम्मति दी। वे सीधे काली माता के पास पहुँचे और कहने लगे "तू मेरी माँ होते हुए मुझे वर्द्धमान क्यों जाना पड़े, तू उसे यहीं बुला ले!" इस तरह बालक की तरह हठ करते हुए समाधिस्थ हो गए।

कुछ देर बाद चैतन्य होकर कहने लगे—"दस दिन पीछे आ जाएगा, वहाँ न जाना पड़ेगा।" दस दिन के भीतर ही एक दिन मथुराबाबू ने जल्दी-जल्दी आकर कहा—"प्रभो, आपके वर्द्धमान के पंडित जी कलकत्ता आ गए हैं। मैंने उनको राजा राधाकांत देव के साथ बातें करते देखा था। मालूम हुआ कि पंडित जी बीमार होकर विमलाचरण विश्वास के बगीचे में ठहरे हैं। जब परमहंस देव उनको देखने को वहाँ गए तो वे तुरंत उठ बैठे और बोले—"अहा! कैसा आश्चर्यजनक रूप मुझे दिखाई पड़ रहा है। बाहर से तो मनुष्य जैसा आकार है, परंतु अंतर में काली रूप जान पड़ता है।" पंडित जी ने अपने विद्यार्थियों से कहा—"तुमने देखा, एक कमरा भर जाए इतनी पुस्तकों को पढ़कर मैंने जो दर्जा प्राप्त किया है

उससे हजारों गुना उत्तम दर्जा परमहंस देव ने बिना पढ़े ही पा लिया है।''

पंडित पद्मलोचन दृढ़ वैष्णव और आचार-विचार पालने वाला व्यक्ति था। इधर रानी रासमणि के शूद्र जातीय होने से अनेक पंडित नामधारी हीन दृष्टि से देखते थे। यह सोचकर परमहंस देव ने कहा—''क्या तुम रासमणि के बगीचे में आ सकोगे?'' पद्मलोचन ने तुरंत उत्तर दिया—''आप यदि भंगी, चमार के घर में हों तो वहाँ पर मैं क्या मेरे पूर्वज भी खुशी से आएँगे। रासमणि और मथुराबाबू तो महाभाग्यशाली हैं जहाँ आप साक्षात काली माता के रूप में विराजमान हैं। मैं इस बीमारी से मुक्त हो जाने पर मथुरा बाबू के घर पर जाऊँगा और वहाँ पर सब पंडितों को बुलाकर शास्त्रार्थ करूँगा और देखूँगा कि उनको या आपको हीन सिद्ध करने का साहस कौन करता है?''

कलकत्ता में कोलूटोला में एक 'चैतन्य-सभा' थी। उसमें चैतन्यदेव की गद्दी बिछाकर भक्त लोग चारों तरफ कीर्तन करते थे। एक दिन परमहंस देव वहाँ पर गए और ध्यानावस्था में गद्दी पर बैठ गए। यह देखकर कोई-कोई तो मुग्धभाव से उनके दर्शन करने लगे और कोई प्रपंची, कपटी, चैतन्य का झूँठा अनुकरण करने वाला कहने लगे। उस समय कलकत्ते के समीप 'कालना' में भगवानदास बाबाजी सच्चे वैष्णव माने जाते थे। आयु भी उनकी बहुत अधिक थी, जिसका ठीक पता किसी को न था। उनसे जब किसी ने उपर्युक्त घटना कही तो वे बड़े नाराज हुए और बहुत बुरा-भला कहा। इसके कुछ दिन बाद ही परमहंस देव नौका द्वारा भ्रमण करते अकस्मात 'कालना' जा पहुँचे और बाबाजी के आश्रम में भी गए।

बाबाजी की दृष्टि अधिक आयु के कारण बहुत क्षीण हो गई थी और वे दूर से किसी को पहचान नहीं सकते थे। परमहंसदेव के पहुँचते ही वे कहने लगे—"मेरे जैसे दीन पर दया करके किस महापुरुष ने इस कुटी को अपनी चरण-रज से पवित्र किया?" तब तक परमहंस उनके सामने जा खड़े हुए। बाबाजी ने उनके चरण छूकर बहुत स्तुति की। बाद में जब उनको यह मालूम हुआ कि ये ही महापुरुष चैतन्यदेव की गद्दी पर बैठे थे तो वे अपनी भूल पर बड़ा पश्चाताप करने लगे।

महान होकर भी साधारण

परमहंस देव बहुत बड़े व्यक्तियों द्वारा पूज्य होने पर भी सर्वसाधारण में मिलकर रहते थे। इस कारण उन्होने आजीवन साधुओं के कपड़े नहीं पहिने। वे सब लोगों के घर आते-जाते रहते थे और वहाँ बिना किसी विशेष आडंबर के रहते-सहते थे। इसलिए थोड़े से साधु-संत और अध्यात्म विषयों के ज्ञाता ही उनके वास्तविक स्वरूप को पहिचानते थे, अन्य लोग तो एक पागल ही समझते थे।

परमहंस देव को धनवान मनुष्यों से एक प्रकार की विरक्ति थी और उनको देखते ही तिरस्कार का भाव उत्पन्न हो जाता था। यह ठीक है कि वे मथुराबाबू जैसे एक धनवान के आश्रम में रहते थे और दो-चार अन्य संपत्तिशाली व्यक्ति भी उनके भक्त और सहायक थे, पर ये सभी ऐसे थे जिनको आध्यात्मिक विषयों में बहुत अधिक रुचि थी और अपने धार्मिक कर्तव्यों की तरफ पूरा ध्यान रखते थे। पर धन का गर्व रखने वाले सेठ-साहूकारों अथवा राजा-महाराजाओं को वे अच्छा नहीं समझते थे और उनके मुँह पर ही खरी बात कह देते थे।

एक दिन बाबू कृष्णदास पाल तथा अनेक 'महाराजा' तथा 'राजा बहादुरों' की सुसभ्य मंडली में परमहंस देव को बुलाया गया था। उस समय कृष्णदास पाल ही समस्त सभासदों में मुख्य बोलने वाले थे। उन्होंने परमहंस देव से कहा—"वैराग्य के उपदेश ने ही इस देश का सर्वनाश किया है। संसार की समस्त वस्तुओं को असार बतलाना ही प्राचीनकाल का 'धर्म' था। इस तरह की धारणा से ही भारतवर्ष परतंत्र हो गया। इसलिए आपको ऐसा उपदेश करना चाहिए जिससे देश का वास्तव में हित-साधन हो।" परमहंस देव ने कुछ हँसकर उत्तर दिया—"इस तरह की विपरीत बुद्धि वाले मनुष्य हमारे देश में अधिक नहीं हैं। तुम प्राणियों का क्या हित-साधन करोगे? तुम जिसे हित कहते हो उसे मैं भली प्रकार जानता हूँ। पाँच आदमियों को भोजन करा देना, रोगियों का इलाज करा देना अथवा एकाध सड़क, तालाब, कुआ बनवा देना। ऐसे कामों से थोड़ा हित-साधन होता है, यह ठीक है, पर मनुष्य की शक्ति ही कितनी है? लोगों का अन्न-कष्ट तुम कैसे दूर कर सकते हो? अन्न-कष्ट का कारण यह है कि ईश्वर ने पर्याप्त जल नहीं बरसाया और अन्न भी उत्पन्न नहीं किया। तुम इधर-उधर से चावल इकट्ठा करके अकाल मिटाने की चेष्टा करते हो, पर उससे कितने व्यक्तियों की रक्षा होती है? उड़ीसा और मद्रास के अकालों में कितने लाख नर-नारी अनाहार से मरे हैं? मलेरिया से कितने ही प्रदेश उजाड़ हो गए, उसको औषधि से क्यों नहीं रोका? जो लोग बच सके हैं, वे बिना औषधियों के भी बच जाते। तुम लोकहित करने का अहंकार तो करते हो, पर यह जगत क्या है, कितना विस्तीर्ण है, इसका भी कुछ ज्ञान है? जीव कहने से मनुष्य

का ही अर्थ नहीं समझना चाहिए। इस जगत में जितने भी विभिन्न योनियों के प्राणी हैं उनको कौन आहार देता है ? उनकी रक्षा कौन करता है ? ईश्वर का कहना है कि वह मनुष्य का अहंकार देखकर तीन बार हँसता है। एक तो किसी मनुष्य का मरण काल उपस्थित होने पर चिकित्सक जब कहता है—"भय मत करो-मैं इसे बचाऊँगा" तब ईश्वर हँसता है। जब भाई-भाई में झगड़ा होकर बँटवारे में पृथ्वी के हिस्से किए जाते हैं, तब ईश्वर हँसता है। जब एक राजा दूसरे राजा का राज्य छीन लेता है, तो तीसरी बार ईश्वर हँसता है। तुमने गंगाजी में मछलियों के छोटे-छोटे बच्चे देखे हैं। इस अनंत ब्रह्मांड में तुम मछली के बच्चे के समान ही हो। जीवात्मा का हित करने की मन में कल्पना करना भी निर्मूल है।"

यह सुनकर कृष्णदास बाबू कुछ न बोल सके, पर राजा बहादुर उनकी सहायता को उठे। इस पर रामकृष्ण बोले, पर जो त्यागी महापुरुष धन को 'काक विष्ठा' की तरह समझते हैं वे राजाओं की गिनती ही कहाँ करते हैं ? इस तरह इन राजा बहादुर को भी सभा-स्थल में ही परमहंस के मुख से ऐसी ही फटकार सुननी पड़ी।

अभी तक जितने मनुष्य दक्षिणेश्वर में आते थे उनमें से कोई परमहंस देव का शिष्य नहीं बना था और न वे किसी के गुरु बनने को तैयार होते थे। कोई उनको नमस्कार करे उसके पहले ही वे उसे नमस्कार कर देते थे। वे हर किसी को अपने पैर नहीं छूने देते थे। वैसे उनके भक्तों की संख्या उस समय (सन् १८८० के लगभग) सैंकड़ों तक पहुँच गई थी और सब विचारों और संप्रदायों के व्यक्ति उनके पास बैठकर अपना आत्म-कल्याण करते थे। उस समय के नवयुवक प्राय: नास्तिक

भावों से प्रभावित होते थे। पर ऐसे व्यक्ति उनके पास आते ही बहुत कुछ बदल जाते थे।

कुछ मुसलमान भी उनके भक्त हो गए थे। दो ईसाइयों को भी वहाँ देखा गया। एक का नाम पी.डी. मिश्र था। उसने मांस-मछली आदि त्याग कर योगाभ्यास किया था, जिससे उसे समाधि अवस्था प्राप्त हो गई थी। दूसरा विलियम था जिसे परमहंस देव के निकट रहने से आत्मज्ञान हो गया था और वह एक पहाड़ी प्रदेश में रहकर योगाभ्यास करने लगा था। परमहंस देव प्रत्येक व्यक्ति को उसके अधिकार और मनोवृत्ति के अनुकूल ही उपदेश देते थे। हर शनिवार को वे किसी भक्त के घर पधारते और कीर्तन, नृत्य तथा हरिनाम की ध्वनि से मुहल्ले को गुँजा देते। उनके इस सीधे-सादे कीर्तन से ही कितने पाखंडी और पतित मनुष्यों का सुधार हो गया और कितनों का अहंकार दूर हो गया, इसकी गिनती नहीं की जा सकती।

संसार में रहकर ही साधन करो

परमहंस देव किसी के कान में मंत्र कहकर उसके गुरु नहीं बनते थे। वे उपदेश करते थे, ईश्वर प्राप्ति का सरल मार्ग बतलाते थे, पर किसी को शिष्य बनाकर गुरु कहलाना उनको पसंद न था। अगर कोई उनको 'गुरु' कहता तो कहते—''कौन किसका गुरु है ? एक ईश्वर ही सबका गुरु है। चंदा मामा जैसे तुम्हारा मामा है वैसे ही मेरा भी मामा है।'' यह स्पष्ट था कि वे किसी को बहला-फुसलाकर अपने शिष्यों का दल तैयार करने की जरा भी इच्छा नहीं रखते थे। वैसे जो अपने मन से आकर्षित होकर अपने जीवन को सार्थक बनाने के उद्देश्य से निकट आता उसके कल्याण की चेष्टा वे सदैव करते रहते थे। वास्तव में महापुरुषों का—सच्चे गुरु का लक्षण भी

यही है कि वह परोक्षरूप से ही अपने निकटवर्ती और दूरवर्ती सभी व्यक्तियों को आत्मोन्नति के मार्ग में अग्रसर होने में सहायता देता रहे। परमहंस देव यद्यपि प्रत्यक्ष में समाज-सुधार या देशोद्धार का कोई खास आंदोलन या योजना नही करते थे, पर अंतरंग रूप से वे ऐसी शक्तियों को प्रेरित करते रहते थे, जिससे प्रभावित होकर अनेक व्यक्ति कार्य क्षेत्र में आ गए और उन्होंने देश तथा समाज के पुनर्निर्माण में महत्त्वपूर्ण योग दिया।

फिर भी जो लोग उनके पीछे पड़े ही रहते उनसे कह देते कि—''माँ काली की जैसी इच्छा होगी वैसा ही होगा।'' जो मनुष्य अपने भजन-साधन में अपने को असमर्थ जानते, उनकी शरण में पड़े रहते, उनको सद्मार्ग पर चलने का उपदेश देकर अभयदान देते थे। जिसकी जैसी मनोवृत्ति होती उसे वे वैसा ही मार्ग-दर्शन कराते थे, इसलिए उनके मनोभाव को समझना अति कठिन था। अनेक शिष्यों को उनके द्वारा स्वप्न में गुरु-मंत्र प्राप्त हुआ था। परमहंस देव अपने शिष्यों से संसार-त्याग करने को नहीं कहते थे। वे कहा करते थे—''संसार को छोड़कर कहाँ जाओगे? गृहस्थ को एक किला समझना चाहिए। किले में रहकर शत्रु से युद्ध करना सहज होता है, क्योंकि उसमें भोजन और गोला बारूद भरकर इकट्ठा किया होता है। पर यदि खुले मैदान में युद्ध करना हो तो वह ज्यादा समय नहीं चल सकता। इसलिए संसार में रहकर ही सांसारिक कार्य चार आना भर और पारमार्थिक कार्य बारह आना भर करके ईश्वराधन करना चाहिए। संसार के ऊपर जब तक पूरा वैराग्य स्वत: उत्पन्न न हो जाए तब तक उसका त्याग नहीं करना चाहिए अन्यथा तुम्हारी वही गति होगी जैसी एक कोपीन के लिए

उस साधु की हुई थी जो चूहों से कोपीन को बचाने के लिए सर्व त्यागी से फिर पूरा संसारी बन गया था।''

परमहंस देव संयोग-वश अध:पतित लोगों को भी अपनी सहनशीलता और परोपकार वृत्ति के द्वारा किस प्रकार ऊँचा उठा देते थे। इसका उदाहरण श्री गिरीशचंद्र घोष के उदाहरण से मिलता है। वे बंगला भाषा के बड़े प्रसिद्ध नाटककार और नाटक खेलने वाले थे। आरंभ में वे आध्यात्मिक प्रेरणा की दृष्टि से ब्रह्मसमाज में जाया करते थे। पर एकाध बार वहाँ के लोगों का ढोंग देखकर 'धर्म' के कट्टर विरोधी बन गए। फिर जब परमहंस देव से उनकी भेंट हुई तो पुन: अध्यात्म की ओर आकर्षित हुए। पर एक दिन जब परमहंस देव उनका नाटक देखने गए थे तो वे किसी बात पर इतना अधिक बिगड़ गए कि सबके सामने परमहंस देव को ऐसी कठोर बातें कहीं और बुरी से बुरी गालियाँ भी दीं कि सुनने वाले स्तंभित रह गए। संभवत: उस समय वे मद्य के प्रभाव में भी थे। उस समय उनके अन्य भक्त बड़े गुस्सा में आ गए पर वे स्वंय हँसते ही रहे और सबको शांत करके दक्षिणेश्वर चले गए। इस घटना से गिरीश बाबू की बड़ी बदनामी हो गई और वे लोगों को मुँह दिखाने में भी लज्जित होने लगे। जब यह समाचार परमहंस देव ने सुना तो उनको बड़ी दया आई। वे स्वंय गिरीश के घर पहुँचे और वहाँ उसे ऐसे ढंग से उपदेश दिया तथा हरिकीर्तन किया कि उसके मन का समस्त मैल धुल गया। तब से वे अंत समय तक परमहंस देव के सच्चे भक्त और सेवक बने रहे।

श्री महेन्द्रनाथ गुप्त कलकत्ता में श्री ईश्वरचंद्र विद्यासागर द्वारा स्थापित स्कूल के हैडमास्टर थे। वे विद्वान थे, उनको अपनी विद्या

का गर्व भी था। गर्मी की छुट्टियों में वे अपनी बहिन के घर गए और एक दिन टहलते हुए दक्षिणेश्वर के बगीचे में पहुँच गए। वहाँ उन्होंने एक बगीचे में परमहंस देव को उपदेश करते देखा। वे भी वहाँ बैठ गए। उस समय परमहंस देव कह रहे थे कि "भगवान का नाम स्मरण करते ही जिसे रोमांच या अश्रुपात हो जाए उसे दर्शन मिलने में अधिक विलंब नहीं होता। भगवान की प्राप्ति हो जाने पर संध्या, नित्य पूजा-पाठ की विशेष आवश्यकता नहीं रहती। उस अवस्था में ॐकार का जप करने से ही सर्वसिद्धि होती है।" महेन्द्रनाथ को परमहंस देव का उपदेश बहुत आकर्षक जान पड़ा और वे सबके चले जाने के बाद पुनः उनसे मिले। उन्होंने देखा कि यह बिना पढ़ा व्यक्ति जितना ज्ञान रखता है उसका शतांश भी मुझमें नहीं है। इससे उनका विद्या का अहंकार दूर हो गया और कुछ समय में उनके परम भक्त और साधक बन गए।

नारी जाति की महत्ता

अनेक स्त्रियाँ भी परमहंस देव की भक्त थीं। जितनी स्त्रियाँ आतीं थीं उनमें वे बाबू मनमोहन की माता को सबसे उच्च बतलाते थे। वह जब तक सधवा थीं उनकी जैसी पतिपरायण स्त्री देखने में नहीं आती थीं। विधवा होने के बाद वह जितने दिन जीवित रहीं उनका व्यवहार एक आत्म-विस्तृत हो जाने वाले का-सा रहा। हाथ की लोहे की चूड़ी और मस्तक का सिंदूर त्याग देने के सिवाय उनमें विधवा का कोई अन्य लक्षण दिखाई नहीं पड़ता था। वह लाल धोती और सोने के कड़े पहिना करती थीं। इसे देखकर अनेक लोग उल्टी-सीधी बातें करते, पर वह इस तरफ कुछ भी ध्यान नहीं देती थीं। एक समय स्त्री-धर्म का प्रसंग आने पर

परमहंस देव ने कहा—'' स्त्रियों के लिए एकमात्र उनका पति ही धर्म है। पति में ही शांति, दास्य आदि सब रस वर्तमान हैं। पति चाहे जीवित हो अथवा देहांत होगया हो, ऐसा ही भाव सदा रखना चाहिए। मनमोहन की माता ने जो सोने के कड़े पहिन रखे हैं उसका यही कारण है। इसके हृदय के भाव बड़े उच्च और सुंदर हैं। लोगों के कहने या रूढ़ि के कारण कोई अपना मनोभाव नहीं बदल सकता।''

जिस समय दक्षिणेश्वर में महिला-भक्तों का आना-जाना होने लगा उसके कितने ही दिन पहले परमहंस देव की पत्नी शारदा माता वहाँ आकर रहने लगी थीं। वे कभी तो उनको अपने कमरे में आने देते और कभी इनकार कर देते। एक दिन परमहंस देव को ध्यानावस्था में देखकर माताजी ने उनके मन की परीक्षा करने को कहा—''बताओ मैं कौन हूँ'' उन्होंने बड़े आनंद के साथ कहा—''तुम हमारी माता आनंदमयी हो।'' यह सुनकर माताजी ने कहा—''तुमको ऐसी बात मुझसे नहीं कहनी चाहिए।'' परमहंस देव ने उत्तर दिया—''मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि एक रूप में माँ आनंदमयी ने इस देह को जन्मा है। एक रूप में माँ आनंदमयी मंदिर में काली बनकर विराजमान है और एक रूप में माँ आनंदमयी (तुम्हारे रूप में) मेरी सेवा करती है।'' यह सुनकर आनंद से माताजी के नेत्रों से अश्रुपात होने लगा। इसके पीछे उन्होंने कभी ऐसी बात नहीं निकाली। परमहंस देव के पास स्त्रियाँ हर समय नहीं जा सकती थीं। ऐसे अवसरों पर वे शारदा माता के पास जाकर वार्तालाप करती थीं।

एक दिन परमहंस देव भोजन करने बैठे, सामने कितने ही भक्त भी बैठे थे। वहाँ गृहस्थ-धर्म चर्चा उठने पर उन्होंने कहा—

"अच्छा, मैंने विवाह किसलिए किया? मैंने स्त्री का पाणिग्रहण क्यों किया? पहिनने के लिए कपड़े का तो मेरे पास ठिकाना नहीं है, तो फिर विवाह कैसा? हाँ, अब समझा (भोजन की थाली में से एक पदार्थ उठाकर) इसके लिए विवाह किया है। विवाह न करता तो ऐसा भोजन बना कर कौन देता? सच तो यह है कि मेरी स्त्री ही यह जानती है कि मुझे कौन-सा अन्न ठीक से पचता है और उसे किस प्रकार बनाया जाता है।"

फिर कहने लगे—"विवाह किसलिए करना होता है, यह जानते हो? ब्राह्मण शरीर के लिए दस प्रकार के संस्कार होते हैं। विवाह भी एक संस्कार है। जिसके ये दसों संस्कार हुए हों वही आचार्य हो सकता है। जो परमहंस है, जो पूर्ण ज्ञानी होना चाहता है, उसे डोम-मेहतर से लेकर राजा-महाराजा तक की स्थिति को भोग लेना-अनुभव कर लेना आवश्यक है। ऐसा न हो तो सच्चा वैराग्य उसके मन में कैसे प्रवेश करेगा? जो अवस्था उसने देखी न होगी उसी अवस्था को भोगने को मन चंचल हो उठेगा।"

"मैं जो काम करता हूँ वह सब तुम्हारे लिए करता हूँ। मैं सोलह आना भर करूँगा तो तुम एक आना भर तो करोगे। इसलिए मैंने विवाह करके ब्रह्मचर्य का सबसे बड़ा उदाहरण तुम्हारे सामने रख दिया। यदि मैंने विवाह न किया होता तो गृहस्थ लोग कहते— इन्होंने विवाह तो किया नहीं। इसलिए ब्रह्मचर्य के विषय में इतनी बात कहते हैं। स्त्री से विवाह करके उसके साथ तो रहे नहीं, इसी से हमको इतना लंबा-लंबा उपदेश देते हैं।" यह भी एक खास कारण था जिससे बड़ी उम्र में विवाह किया। उनकी और पत्नी की

आयु में जो विशेष अंतर था उसका कारण विशेष आत्मिक संबंध था, क्योंकि प्रत्येक स्त्री इस प्रकार उनके साथ नहीं रह सकती थी। शारदा माता जब प्रथम बार दक्षिणेश्वर आईं तो आठ महीने तक उनके साथ एक शैय्या पर सोती रहीं। कामारपुकुर और जयरामवाटी (ससुराल) में भी अपनी पत्नी के साथ एक-एक, दो-दो महीने तक रहे पर उन्होंने मन में कभी काम विकार उत्पन्न न होने दिया। शारदा माता ने कभी इसकी शिकायत नहीं की। यह एक असाधारण स्थिति थी जिससे ये पति-पत्नी हजारों व्यक्तियों के लिए दैवी पुरुष और शक्ति की तरह पूजनीय बन सके। हमारे शास्त्रों के मतानुसार कोई महान व्यक्ति बिना शक्ति के संसार के उद्धार संबंधी कार्यों को नहीं कर सकता, उसका एक उदाहरण परमहंस देव और शारदा माता का दैवी वैवाहिक जीवन था।

परमहंस देव की माता भी अंतिम बारह वर्ष तक उनके पास दक्षिणेश्वर में रही थीं। जब मथुराबाबू परमहंस देव को ५० हजार रुपया देना चाहते थे तो इसके लिए परमहंस जी ने उनको बहुत डांटा-फटकारा। तब मथुराबाबू उनकी माता से कहने लगे—''दादी माँ, आप तो मुझे पुत्र की तरह मानती हैं, पर आपने कभी मुझसे कोई सेवा नहीं ली। इसलिए अगर मुझसे स्नेह रखती हैं तो कोई भी चीज माँग लें।'' मथुराबाबू की बात सुनकर माताजी बड़ी चिंता में पड़ गईं। उन्होंने विचार किया तो किसी चीज की आवश्यकता नहीं जान पड़ी। पर जब मथुराबाबू बार-बार कहते ही रहे तो उन्होंने कहा—''नहीं मानते तो मेरे लिए एक आने की हुलास (पिसी तम्बाकू) की पुड़िया लेते आना। मैं उससे मंजन करती हूँ और अब वह खत्म हो गई है''। यह सुनकर द्रव्य का गर्व रखने वाले

मथुराबाबू के नेत्रों में जल भर आया और प्रणाम करके कहने लगे—"धन्य है, माताजी, धन्य है आपकी निर्लोभिता! आप जैसी माता न होतीं तो ऐसे परम त्यागी पुत्र (श्रीराम कृष्णदेव) कहाँ से आते ?" यह कहकर उन्होंने माताजी को हुलास मँगवा दी।

शिष्यों के प्रति कल्याण-भावना

भारतीय धर्म-ग्रंथों में गुरु को बड़ा महत्त्व दिया जाता है। कई स्थानों में तो 'गुरु साक्षात् परब्रह्म' लिखकर उनको ईश्वर की पदवी दे दी गई है। यह बात यथार्थ भी मानी जा सकती है, यदि गुरु भी अपने कर्तव्य का पूर्ण रूप से पालन करें। जिस गुरु को सदैव शिष्य के कल्याण का ध्यान रहता है और जो उसकी उन्नति के लिए नि:स्वार्थ भाव से अधिक से अधिक सहयोग प्रदान करता है, वह शिष्य के लिए भगवान के समान ही माननीय है। पर जो गुरु गोस्वामी तुलसीदास जी के कथनानुसार "हरहिं शिष्य धन शोक न हरई" वाली उक्ति को चरितार्थ करते हैं—शिष्य को अंध-विश्वास के गड्ढे में गिराकर अपना स्वार्थ सिद्ध करने की फिक्र में रहते हैं, उनको—'गुरु' के पवित्र नाम को ग्रहण करने का कोई अधिकार नहीं है।

इस दृष्टि से हम परमहंस देव को एक सच्चा गुरु कह सकते हैं। यदि वे चाहते तो अपने लाखों भक्तों और अनुयायियों में से हजारों शिष्य बनाकर एक बड़े वैभवशाली मठ की स्थापना कर सकते थे, पर उन्होंने एकमात्र नरेन्द्र (स्वामी विवेकानंद) को तो स्वयं आग्रह करके शिष्य बनाया, जिससे उनका आध्यात्मिक कार्यक्रम सुव्यवस्थित और स्थायी रूप ग्रहण कर सके। इसके सिवाय दस-बीस अन्य व्यक्तियों ने उनके पीछे पड़कर दीक्षा ग्रहण कर ली, अन्यथा वे 'गुरु-शिष्य' के झगड़े से यथा संभव पृथक ही

रहे और लोगों को स्वयं ही अपनी रुचि तथा प्रवृत्ति के अनुकूल अध्यात्म-पथ पर अग्रसर होने की प्रेरणा करते रहे, जिससे बाद में पीछे कदम हटने और माया-मोह में लिप्त होकर हास्यास्पद बनने की नौबत न आए। पर जब कोई उनसे गुरु-मंत्र देने को कहता तो वे उसे अपने कुल-गुरु के पास ही मंत्र लेने को कह देते थे।

स्वामी विवेकानंद को शक्ति प्रदान करना

नरेन्द (बाद में स्वामी विवेकानंद) से परमहंस देव की प्रथम भेंट सन् १८८१ में एक भक्त के घर पर हरिकीर्तन करते हुए हुई थी। प्रथम दृष्टि में ही वे उनकी तरफ विशेष रूप से आकर्षित हो गए और उनसे एक दिन दक्षिणेश्वर आने का आग्रह किया। जब वे वहाँ पहुँचे तो परमहंस देव उनको एकांत में ले जाकर कहने लगे—''इतने दिन पीछे आया है, मैं तेरा कितना अधिक रास्ता देख रहा था। मैं जानता हूँ तुम पुरातन ऋषि हो, जीवात्माओं की दुर्गति निवारण के लिए तुमने पुनः शरीर धारण किया है।'' नरेन्द्र ये बातें सुनकर स्तब्ध रह गए और सोचने लगे कि आज अच्छे पागल से पाला पड़ा। वे किसी प्रकार पीछा छुड़ाकर घर वापस चले गए।

इसके बाद नरेन्द्र जब दुबारा परमहंस देव के पास गए तो उन्होंने अपनी विशेष आत्मिक शक्ति से उनको विश्वास दिला दिया कि वास्तव में वे एक विशेष आत्मा हैं और उनका जन्म लोक-सेवा के किसी महान कर्तव्य की पूर्ति के लिए हुआ है। अंत में वह दिन आया जबकि वे परमहंस देव के सर्वप्रधान शिष्य बनकर उनके उद्देश्य की पूर्ति करने योग्य बन गए। स्वामी विवेकानंद जी ने गुरु की आज्ञा का पालन करके भारत ही नहीं विदेशों में भी भारतीय धर्म की पताका गाढ़ दी और मनुष्य मात्र के लिए आत्मोद्धार का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

जीवन की अंतिम झाँकी

सन् १८८६ के आरंभ में परमहंस देव को अपने शरीर में ऐसे लक्षण दिखाई पड़ने लगे जिससे उनको शीघ्र ही अंत होने का ज्ञान हो गया। इसीलिए एक दिन उन्होंने कुछ शिष्यों से बात कहते हुए कहा— "सुनो, मैं माता से कह रहा था कि अब लोगों के साथ बात नहीं कर सकूँगा, इसलिए महेन्द्र नरेंद्र, गिरीश, विजय, केदार आदि शिष्यों को शक्ति दे, जिससे उपदेश देकर वे सच्चे भक्त तैयार करें।"

इसके कुछ ही दिन बाद उनके गले में दर्द होने लगा और भोजन करना कष्टकर हो गया। धीरे-धीरे यह रोग गण्डमाला के रूप में परिणत हो गया। परमहंस जी डाक्टरी इलाज नहीं कराते थे, इससे होमियोपैथी चिकित्सा शुरू की गई। पर रोग लगातार बढ़ता ही गया। अंत में कलकत्ते के सबसे मशहूर डॉक्टर महेन्द्रनाथ सरकार का भी इलाज कराया। पर उसका अधिक प्रभाव न हुआ। १५ अगस्त १८८६ को उनकी दशा ज्यादा खराब हो गई। तब उन्होंने कहा कि 'जब रोग नहीं मिटता तो इसके लिए तकलीफ सहने की आवश्यकता क्या है? उसी रात को एक बजे समाधिस्थ हो गए।'

परमहंस देव के पश्चात स्वामी विवेकानंद जी ने उनके कितने ही शिष्यों को संन्यास ग्रहण करके लोकोपचार के लिए सर्वस्व अर्पण करने को तैयार किया। सबसे पहले वे स्वयं इस क्षेत्र में अग्रसर हुए और देश-विदेशों में कई वर्ष तक अथक प्रचार कार्य करके 'श्री रामकृष्ण मिशन' की स्थापना की जो उनके उद्देश्यों की पूर्ति के लिए आज तक जन-सेवा और जन-जागरण की अनेक योजनाओं को कार्यान्वित कर रहा है।

मुद्रक : युग निर्माण प्रेस, मथुरा।